सफलता में विविधता के लिए आकलन

प्रो. कृष्ण कुमार से विश्वंभर की बातचीत

प्रश्नः हमारे यहां नीतिगत दस्तावेजों में आकलन के तौर-तरीकों में बदलाव की काफी बात हुई है। फिर चाहे करीब 50 साल पहले की कोठारी आयोग की रिपोर्ट हो या करीब 25 साल पहले की यशपाल समिति रिपोर्ट। पिछले करीब 10 सालों में राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 और शिक्षा का अधिकार कानून, 2009 में आकलन में बदलाव की पुरजोर पैरवी की गई है। इसके बावजूद आकलन के तौर-तरीकों में बदलाव नहीं आ पा रहा है। आपके हिसाब से इसकी क्या वजह हैं?

उत्तरः देखिए, जाहिर है कि यह मसला शिक्षा व्यवस्था और समाज के बीच के संबंधों का है। यानी, यह एक ढांचागत चीज है। हालांकि हम लोग, जो शिक्षा में लगे हुए हैं, इसे एक शैक्षिक मसला मानते हैं। पर यह एक शैक्षिक मसला है नहीं। अगर आप इसे वृहत्तर सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखेंगे तो इसके समाजशास्त्रीय पहलू एकदम उभरकर सामने आ जाएंगे। क्योंकि मूल्यांकन चाहे किसी भी स्तर पर हो, बचपन में हो या विश्वविद्यालय के स्तर पर, मूल्यांकन अंततः समाज में उपलब्ध रोजगार के अवसरों से शिक्षा को जोड़ने का एक जरिया होता है। मूल्यांकन के जरिए ही शिक्षा व्यवस्था एक तरह का प्रबंधन, नियमन और नियंत्रण करती है कि कितने लोग शिक्षा व्यवस्था में किस स्तर के ऊपर जाएंगे और कितने लोग शिक्षा व्यवस्था से निकलकर रोजगार की वृहत्तर सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के किस स्तर पर जाएंगे। यह शिक्षा के मूल्यांकन पक्ष का बहुत ही सूक्ष्म किस्म के वितरण से संबंधित नियमन है जिसे शिक्षा करती है और जो अलग से दिखाई नहीं देता।

आप जब पूछ रहे हैं कि यह सुधरता क्यों नहीं, तो इसका कारण यही है कि भारत की आर्थिक व्यवस्था लगातार सामाजिक विषमता के दायरे में घिरी रही है। गांव और खेती पर आधारित अर्थव्यवस्था पर लगातार औपनिवेशिक काल से दबाव रहा है। इस दबाव का एक सांस्कृतिक पक्ष है। हमारे देश में, जिसे

आज की शब्दावली में मानव संसाधन बोलते हैं, वह दरअसल क्या है? किसी देश की जो कुल प्रतिभा है वह शिक्षा के जरिए प्रवाहित नहीं हो पाती, अभिव्यक्त नहीं हो पाती। औपनिवेशिक व्यवस्था में यह संभव नहीं था और उसके बाद इक्कीसवीं शताब्दी में जिस तरह से विकास की अवधारणा बनी है और चली जा रही है या जिस तरीके से हम प्रगति या विकास को परिभाषित करते हैं, उसमें भी बुनियादी तौर पर यह समस्या है। इसमें एक तरह की रोक है। रोक से यहां आशय है कि अर्थव्यवस्था बहुत सीमित अवसरों को पैदा करती रही है और दूसरी तरफ लोकतंत्र बहुत बड़ी मात्रा में आकांक्षाओं और महत्त्वाकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देता रहा है। यह राजनैतिक व्यवस्था और आर्थिक व्यवस्था के बीच एक अंतर्विरोध है, टकराव है। इन दोनों व्यवस्थाओं और सामाजिक व्यवस्थाओं के बीच तो टकराव है ही। क्योंकि सामाजिक व्यवस्था जातिगत विषमताओं पर टिकी हुई है। गांव और शहर की विषमताओं से सीधे-सीधे जुड़ी हुई है। इन टकरावों के चलते मूल्यांकन पर आधारित यह जो नियमन प्रणाली है, उसे इन टकरावों के दायरे में ही सुधारा जा सकता है और एक सीमा तक ही सुधारा जा सकता है। क्योंकि मूल्यांकन एक बड़ी बुनियादी भूमिका निभा रहा है। उस भूमिका को सिर्फ शिक्षा व्यवस्था अपने-आपमें नहीं बदल सकती।

प्रश्नः क्या आपको लगता है कि अगर हम मूल्यांकन के तरीकों में बदलाव लाएं तो उससे वृहत्तर परिप्रेक्ष्य, जिसकी आपने अभी चर्चा की, उसमें कोई बदलाव आएगा?

उत्तरः अब बात बदलाव के स्तर की आती है। पिछले पांच-सात साल से प्रारंभिक शिक्षा के संदर्भ में मूल्यांकन पद्धति में बदलाव की चर्चा हो रही है। यह शिक्षा के अधिकार कानून में बहुत ही मुखर रूप में अभिव्यक्त हुई है। शिक्षा व्यवस्था में बहुत महत्त्वपूर्ण फैलाव आया है, जो कि बहुत लम्बे समय से नहीं आ सका था। यह पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों में ही आया है। यह व्यवस्था और समाज के लिए एक अभूतपूर्व घटना है।

ऐतिहासिक रूप से लगभग 150-175 सालों का इतिहास साक्षी है कि प्रारंभिक शिक्षा मूलतः बहुसंख्य बच्चों को आगे बढ़ने से रोकने के मकसद के लिए काम कर रही थी। आज तक आते-आते इसमें जो परिवर्तन आया है वह यही है कि अब हम इस स्तर पर बच्चों को रोकने की जगह उन्हें आगे जाने की व्यवस्था तैयार करना चाहते हैं। आप कह सकते हैं कि पिछले एक-दो दशकों में सामाजिक सोच में किसी हद तक, राजनैतिक सोच में थोड़ा ज्यादा और नीति संबंधी सोच में और भी ज्यादा फैलाव के संकेत आए हैं। अर्थात्, शिक्षा का काम रोकना नहीं, आगे बढ़ाना होना चाहिए। यह कानून कम से कम आरंभिक स्तर पर एक तरह की सहमति का परिणाम है, जिसे संसद ने भी सहमति दी है कि प्रारंभिक शिक्षा में हम किसी भी बच्चे को ना रोकें। इसी तरह की चीज राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 ने व्यक्त करने का प्रयास किया है कि सफलता में विविधता होनी चाहिए। यह रूपरेखा यह बात करती है कि शिक्षा में हर बच्चे को सफल होने का अधिकार है। इसका आशय ही यह है कि सफलता का कोई एक रूप नहीं हो सकता। बच्चों की रुचियां भिन्न हैं, उनकी परिस्थितियां भिन्न हैं, हर स्थिति में अलग ढंग से सफल होने का हर बच्चे का अधिकार है और शिक्षा को बच्चों को असफल नहीं बनाना चाहिए। पाठ्यचर्या की रूपरेखा और शिक्षा के अधिकार कानून में सामाजिक दर्शन का यह एक सिद्धांत व्यक्त करने का प्रयास किया गया है।

सफलता में विविधता का मसला अंततः कहीं न कहीं आर्थिक व्यवस्था से भी जुड़ा हुआ है। आज से 50 या 100 वर्ष पहले रोजगार की दृष्टि से या आर्थिक दृष्टि से सफल होने के कुछेक ही आयाम थे। आज अर्थव्यवस्था यहां तक विकसित हुई है या फैली है कि उसमें अनेक तरह के आयाम हैं, हालांकि वे पर्याप्त आज भी नहीं हैं। उनमें अभी भी अधिकांश ऐसे आयाम वर्चस्व पाए हुए हैं जो छोटी-मोटी सफलताओं को बिल्कुल बेमानी बना देते हैं और एक खास तरह का सांस्कृतिक माहौल रचते हैं। आज भी कुछ ही तरीकों से सफल होना हैसियत का संकेत है। यह हमारी एक ऐतिहासिक विरासत है।

हम लोग जहां बैठकर बात कर रहे हैं उसके बगल में ही, इस राजधानी के भीतर एक राजधानी है, मुखर्जी नगर। जहां शिक्षा व्यवस्था की एक सबसे बड़ी विसंगति देखी जा सकती है। यह एक विश्वविद्यालय है, यहां बी.ए., एम. ए. में पढ़ रहे कुल छात्रों की संख्या गिनी जाए तो लगभग उतने या उससे भी ज्यादा छात्र वहां सिविल सर्विस की तैयारी कर रहे हैं। मुखर्जी नगर अपने-आपमें एक बड़ा गतिशील समानान्तर विश्वविद्यालय है जो दिल्ली

विश्वविद्यालय के बगल में पसरा हुआ है। जहां अनुत्तीर्ण होना या असफल होना ही अधिकांश लोगों की नियति है और फिर भी वह लोगों में उत्साह जगाती है। यह है हमारी विरासत, जिसमें बहुत कम संख्या में लोग एक निश्चित तरीके से सफल होना चाहते हैं। प्रारंभिक शिक्षा में जो बदलाव आया है यह एक तरीके से नए सामाजिक इतिहास का बिल्कुल प्रारंभिक अध्याय है, जो जाहिर है बहुत लम्बे समय तक खुलता रहेगा। अभी यह कई अध्यायों में आएगा। लेकिन अभी हम उसके ऊषाकाल में हैं और इस ऊषाकाल में हमें एक बड़ी चुनौती महसूस हो रही है कि हम शिक्षा के अधिकार कानून में सबको सफल होने के हक देने की बात को कैसे लागू करें।

इसका अर्थ ही है कि हम सफलता में विविधता के सिद्धांत को स्वीकारें और 'हम' से यहां आशय है कि सबसे पहले शिक्षक इसे स्वीकारें। क्योंकि शिक्षक भी आखिर इसी समाज व्यवस्था, सामाजिक इतिहास से दीक्षित हुआ है और इस दीक्षा का एक मूलमंत्र ही यह है कि सफल तो कुछ ही लोग हो सकते हैं। जब कुछ ही लोग सफल हो सकते हैं तो जाहिर है कि अधिकांश लोग विफल होने के लिए अभिशप्त हैं। विफलता का वितरण हमारी शिक्षा व्यवस्था की धुरी रही है। अब धुरी से हटना कोई आसान काम तो नहीं होता! इसीलिए आप देखते हैं कि इतने दस्तावेजों के बावजूद यह आगे नहीं बढ़ा है। इसका एक कारण यह है कि इसकी धुरी ही ऐसी है, जो विफलता का वितरण ज्यादा उत्साह से करती है और सफलता के मानकों को बहुत सीमित दायरे में प्रस्तुत करती है।

प्रश्नः हमारे यहां अभी आरंभिक शिक्षा में बच्चों को अगली कक्षा में जाने से नहीं रोकने (नो डिटेंशन) का विरोध हो रहा है। कुछ छात्र कह रहे हैं कि इसके चलते प्रतिस्पर्द्धा खत्म हो गई है। शिक्षक कह रहे हैं कि इसकी वजह से बच्चे पढ़ाई को गंभीरता से नहीं लेते। शिक्षकों में भी इसे लेकर एक तरीके की नाराजगी है कि नहीं सीखने के बावजूद वे अब बच्चों को रोक नहीं सकते। इसे कैसे समझा जाए क्योंकि यह भी आकलन से ही जुड़ा मसला है?

उत्तरः बिल्कुल, इसी तरह से समझा जाए, क्योंकि यह एक सभ्यता है। विफलता के जरिए बच्चों को रोकना या विफलता का डर जगाकर उनमें सीखने की इच्छा पैदा करने का जो एक दृष्टिकोण है वह इसी इतिहास की ओर इशारा करता है। हमें लगता है कि बच्चे में जब तक डर नहीं होगा तब तक वह पढ़ेगा नहीं। जबकि जिन दस्तावेजों का आप जिक्र कर रहे हैं वे सभी इसके एकदम उलट सिद्धांत पर आधारित हैं कि सीखने की नैसर्गिक इच्छा तो हर बच्चे में होती है। यानी, सीखने की इच्छा उसमें नैसर्गिक रूप से है, हमें पैदा नहीं करनी है। अगर ऐसा है तो फिर डर का क्या स्थान है! इसका विश्लेषण करने की जगह राजनीतिक दबाव इस बात को लेकर बन रहा है कि हम डर की जो पारंपरिक व्यवस्था है उस पर लौट जाएं। यानी, हमने जो दो कदम आगे बढ़ाए हैं हम उन दो कदमों को निरस्त करने के लिए तीन कदम पीछे चले जाएं। जाहिर है पीछे जाने में ज्यादा चैन मिलता है। अगर आप कोई नया काम कर रहे हैं और उनमें नई चुनौतियां पेश हो रही हैं तो यह बड़ी स्वभाविक मानवोचित इच्छा होती है कि हम उस नए काम को बीच में ही छोड़ दें और जिस पुरानी स्थिति में आराम महसूस करते थे, उसमें लौट जाएं। इसलिए यह दबाव पूरी तरह से पीछे जाने का दबाव है। जिस स्थिति से हम निकलने की कोशिश कर रहे हैं वह अभी भी हमें आकर्षित करती है।

अब अगर आप पूछेंगे कि क्यों आकर्षित करती है, तो उसका एक कारण यही है कि इस तरह का कानून बनाने के बाद जितना ध्यान शिक्षकों के चयन पर, उनके प्रशिक्षण पर, उनकी सामाजिक हैसियत पर, उनकी आर्थिक हैसियत पर दिया जाना चाहिए था, वह न केवल नहीं दिया गया है बल्कि इसका उल्टा दिखाई देता है। पिछले पांच वर्षों में, जैसा कि मैंने पहले कहा है कि यह वर्ष ऊषाकाल के वर्ष हैं, ऊषा के समय में शिक्षक की सबसे ज्यादा कोताही हो रही है। एक नए कानून के ऊषाकाल में एक शिक्षक को ही सबसे ज्यादा ठुकराया जा रहा है। कहीं तकनीक के नाम पर, तो कहीं उसकी हैसियत को चोट पहुंचाने के तरीकों में जैसे कि संविदा शिक्षक, पैरा-टीचर या फिर शिक्षकों की भर्ती पर ही रोक लगाकर।

शिक्षक प्रशिक्षण का क्षेत्र तो हमारी कोताही का एक पुराना क्षेत्र है। शिक्षक प्रशिक्षण की संस्थाओं को, प्रशिक्षण की पद्धतियों को आर्थिक रूप से बिल्कुल सीधे-सीधे व्यापारीकृत करके बाकायदे बाजार में खड़ा कर दिया है। आजकल जिसे सेल्फ फाइनेंसिंग पद्धति बोलते हैं, उस तरीके से शिक्षक प्रशिक्षण की संस्थाएं चलाकर हम लोग इस पूरे

ऊषाकाल को संध्याकाल में बदल देने के लिए एकदम कटिबद्ध हैं। ऊषाकाल में ये सब धूल नहीं होनी चाहिए, धूल तो गोधूली के वक्त में होती है। लेकिन यह धूल बाजारवाद से पैदा की गई है।

हमारी 90 प्रतिशत शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाएं इस समय बाजारवादी पद्धति से चल रही हैं, जिसमें फीस से ही पूरी संस्था चलाने का जिम्मा है। स्वयं राष्ट्रीय अध्यापक प्रशिक्षण परिषद्, जो कि देश की सर्वोच्च राष्ट्रीय परिषद् है, उसे भी एक दशक से अधिक समय से कोई सरकारी अनुदान नहीं मिला है। उसे भी यही निर्देश रहा है कि वह पूरी तरह से अपने जुटाए हुए संसाधनों से चले। अपने जुटाए हुए का मतलब है विद्यार्थियों की फीस से। यानी, विद्यार्थी अपनी संस्था भी चलाए और नियमन करने वाली इस राष्ट्रीय संस्था को भी चलाए। सरकार ने उसे अनुदान देना ही बन्द कर दिया है और वह अभी भी बार-बार मांग कर रही है कि हमें सरकारी अनुदान दिया जाए। उसी तरह केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड कोई अनुदान नहीं लेता, वह भी पूरी तरह से बच्चों की फीस से चल रहा है। यह पूरा मॉडल नव-उदारवादी आर्थिक व्यवस्था का मॉडल है। राष्ट्रीय अध्यापक प्रशिक्षण परिषद् में यह कोशिश हो रही है कि सरकार को याद दिलाया जाए कि यह आपकी संस्था है। लेकिन अभी तो यही स्थिति है कि इसके लिए कोई अनुदान सरकार नहीं दे रही है। ये सारी चीजें दिखाती हैं कि क्यों यह ऊषाकाल इतना धूल-धक्कड़ से भर गया है।

प्रश्नः आपने अभी तक जो चर्चा की है वह वृहत्तर राजनैतिक-आर्थिक परिदृश्य से संबंधित हैं और जो पूरी शिक्षा व्यवस्था को सीधे-सीधे प्रभावित भी कर रही हैं। आपसे एक शिक्षाविद् की नजर से यह समझना चाहते हैं कि शिक्षा की पूरी योजना में हम आकलन को किस जगह रखें? पाठ्यचर्या और शिक्षाशास्त्र में आकलन का क्या स्थान है?

उत्तरः देखिए, आकलन पाठ्यचर्या का एक अंग है, पढ़ाने का एक हिस्सा है। अगर मुझे आपको पढ़ाना है, एक दिन व्याख्यान के तौर पर नहीं बल्कि मुझे आपको महीने भर पढ़ाना हो तो जाहिर है कि मुझे लगभग हर दिन सोचना होगा कि आपने जो पिछला पढ़ा था, क्या मैं आज इससे आगे बढ़ सकता हूं या नहीं बढ़ सकता। यह इस पर निर्भर होगा कि मैं इस बात का आकलन करूं कि मैंने कल आपको जो पढ़ाया था वह आज भी थोड़ा बहुत मदद दे रहा है या आपने उसे भुला दिया है। मुझे उसे फिर से दोहराना पड़ेगा या किसी और ढंग से पढ़ाना पड़ेगा। यह जानने के बाद मैं आगे बढ़ूंगा। अगले सप्ताह तक आते-आते तो मुझे बहुत चिंता हो जाएगी कि पिछला सप्ताह आपने किस तरह बिताया। मैंने आपको जो पढ़ाया था, कहीं आपने एकदम गायब तो नहीं कर दिया। मैंने जो चीजें आपको पढ़ने के लिए कहा था वे आपने पढ़ी भी हैं या नहीं। एक विद्यार्थी के रूप में आपकी सक्रियता का भरोसा मुझे लगातार मिलते रहना चाहिए। तभी मैं आपको आगे पढ़ा पाऊंगा। इस तरह आकलन पढ़ाने, अध्यापन का एक अंग है और इसीलिए उसे किसी भी तरह से अलग करके तो देखा ही नहीं जा सकता।

हमारे यहां जो परीक्षा पद्धति रही है, जैसा मैंने आपसे पहले भी कहा, यह हमारे पूरे औपनिवेशिक इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। हमारे यहां सार्वजनिक परीक्षा प्रणाली की छाया शिक्षा के हर स्तर पर पड़ी है। यह प्रणाली इस धुरी पर आधारित है कि हर छात्र सफल नहीं हो सकता। क्योंकि शिक्षा का काम है कि वह समाज में इतने ज्यादा लोगों को सफल न होने दे कि फिर उनके लिए रोजगार या उनके कौशल या बुद्धि के लायक कोई काम उपलब्ध कराने में समस्या हो। अगर समाज में व्यवस्था नहीं है तो समाज एक सीमा से ज्यादा निराशा नहीं वितरित करना चाहता। निराशा बाद में हो इससे बेहतर है कि उनको पहले ही रोक दिया जाए। समाज व्यवस्था इस तरह से काम करती रही है या काम करती है। ऐसी स्थिति में अध्यापन का यह अंग छिटककर एक पूर्णांग बन गया है। परीक्षा उद्योग अपने-आपमें एक पूरा शरीर बन गया है।

स्कूलों में भी हम देखते हैं कि 10वीं-12वीं की जो सार्वजनिक परीक्षा होती है, वह शिक्षा व्यवस्था का अंग है ही नहीं। यह पिछले सौ-सवा सौ सालों से अपने-आपमें एक संस्था रही है। जैसा कि आप देखते हैं यह व्यवस्था पुलिस की मदद से ही चल पाती है। क्योंकि परीक्षा लेना समाज का काम है, यह सिर्फ शिक्षा का काम नहीं है। शिक्षा अकेले कर भी नहीं पाती। बाकायदा, मार्च-अप्रैल के महीनों में पुलिस तंत्र इसमें पूरा सहयोग देता है, तब जाकर ये परीक्षाएं हो

पाती हैं। इस तरह की जितनी चीजें हैं, यह सब आपको याद दिलाती हैं कि अपने-आपमें परीक्षा पद्धति शिक्षण से पूर्णतः हटी हुई एक संस्था के रूप में काम करती है। यह उसी की छाया है जो हर स्तर पर दिखाई देती है जिसकी वजह से हम एक पुरानी पद्धति की रोक को शिक्षा के अधिकार कानून के इस ऊषाकाल में आज महसूस कर रहे हैं।

प्रश्नः एक बात आपने कही है कि बच्चों ने क्या सीखा है इसका पता लगाना ताकि उसके आधार पर उनके सीखने में आगे मदद की जा सके। दरअसल, आजकल आकलन की सारी मार बच्चे को ही झेलनी पड़ती है। बच्चे के सीखने में तो आकलन मददगार है ही लेकिन क्या यह शिक्षक के लिए भी किसी तरह से मददगार हो सकता है?

उत्तरः शिक्षक के लिए तो पाठ्यचर्या का निर्धारण किया ही जाता है। यानी, मैं अब क्या पढ़ाऊं और कैसे पढ़ाऊं; उसे यह संकेत या रोशनी कहां से मिल रही है? यह आकलन से ही आ रही है। अगर मेरे पिछले सप्ताह के प्रयास से ये चार बच्चे कुछ खास नहीं सीख पाए तो मैं इससे यह समझूं कि मैं अपने पढ़ाने के तौर-तरीकों में और क्या सुधार लाऊं, ताकि मैं जो सिखाना चाहता हूं उसे ये चार बच्चे भी सीख लें। शिक्षक का लगातार परिष्कार, उसकी अपनी पढ़ाने की पद्धतियों और अलग-अलग बच्चे तक पहुंचने के तरीकों में सुधार लाना इसका मकसद है। यानी, शिक्षक में अपने सुधार की इच्छा पैदा करना उस आकलन का काम है जो कि शिक्षण का अंग है, जिसे सतत आकलन कहते हैं। उसका उद्देश्य है बच्चे के सतत होते विकास को देखकर अपने पढ़ाने की पद्धतियों में परिष्कार करते जाना।

देखिए, शिक्षक पूरा काम लगातार एक प्रकार के आंतरिक परिष्कार की मांग करता है। क्योंकि इसमें शिक्षक और बच्चे के बीच में और तो कोई है ही नहीं। अब ठीक है आजकल कुछ लोग दावा करते हैं कि उन्होंने कोई टैक्नोलॉजी बनाई है जो इस रिश्ते के बीच में डाल दी जाए। देखते हैं शिक्षण में उसका कितना स्थान बन पाता है। लेकिन हम यह जानते हैं कि शिक्षा में ये दो ही पात्र हैं। इन दोनों पात्रों को साथ-साथ काम करना होता है और यही मुख्य परिवर्तन इससे अपेक्षित है कि बच्चे को देखकर अध्यापक अपने काम में परिष्कार करें, लगातार बेहतर होते जाएं। पता नहीं आपकी गानों में कितनी रुचि है, 'वीर जारा' में एक गाना है। उसकी एक लाइन है 'सुधरते-सुधरते सुधर जाएंगे'। यानी, थोड़ा-थोड़ा सुधरते जाएंगे। वे खुद ही को सुधारते जाएं तो सुधरते चले जाएंगे। क्योंकि यह निरंतर एक काम है, ऐसा नहीं है कि उसका कोई एक मानक है। बच्चों के बीच काम करने की आदत का निर्माण निरंतर एक सुधरती हुई प्रक्रिया है। बच्चों को देखकर आपको उकताहट न हो, थकान न हो।

शिक्षक पर बच्चे लगातार दबाव पैदा करते हैं, परिवार में भी करते हैं और कक्षा में भी करते हैं। शिक्षक का पेशा ही ऐसा है कि वह किसी तरह से इस दबाव को न केवल झेल ले, बल्कि इस दबाव में सुख महसूस करे। यह बड़ा मुश्किल काम है और इसलिए ही बड़े-बड़े दार्शनिक कहते रहे हैं कि यह केवल एक आदत का ही प्रश्न नहीं है बल्कि आपको एक ऐसी व्यवस्था बनानी होगी कि एक शिक्षक वयस्कों के बीच में भी जी सके। आप 24 घंटे उस पर यह दबाव न बनाएं वरना वह पागल हो जाएगा। इसलिए जरूरी है कि जितने घंटे शिक्षक से उसकी सेवाएं मांगते हैं उससे कहीं ज्यादा घंटे उसे दें, जिससे वह अपनी बैट्री को रिचार्ज कर सके। क्योंकि बच्चों के दबाव में शिक्षक की भावनात्मक और बौद्धिक रूप से बहुत ज्यादा ऊर्जा लगती है।

भारतीय समाज की एक बहुत बड़ी कमजोरी यह है कि वह इस ऊर्जा का मापन ठीक से नहीं करता है। वह सोचता है कि एक डॉक्टर की ऊर्जा ज्यादा लगती है जबकि डॉक्टर सिर्फ शरीर की चीजों को ठीक करता है। शिक्षक की ऊर्जा डॉक्टर से कहीं ज्यादा लगती है। क्योंकि शरीर पर तो आप देख सकते हैं कि कहां घाव लगा है, कहां दर्द हो रहा है, कहां माथा गर्म है। लेकिन दिमाग में क्या चल रहा है यह पता लगाना बहुत मुश्किल होता है। वह भाषा में, गणित में या ज्ञान के अलग-अलग क्षेत्रों में किस तरह किसी चीज को समझ रहा है। शिक्षक का काम कहीं ज्यादा ऊर्जा की, कहीं ज्यादा कल्पना शक्ति और सूझ-बूझ की मांग करता है। इसलिए यदि शिक्षक थका हुआ है या आप ऐसी व्यवस्था बनाते हैं जिसमें वह थक जाता है तो आप व्यवस्था के उद्देश्य को ही एकदम खत्म कर देते हैं। शिक्षक यदि तरो-ताजा नहीं महसूस करता या उसमें इतनी ऊर्जा नहीं है कि वह चार-पांच घंटे तरो-ताजा रहकर काम कर

सके तो फिर उसका काम ही कई समझौतों का शिकार हो जाएगा और यह हो रहा है, होता ही है। हमारे यहां शिक्षक पर काम का, बच्चों का, संख्या का और अतिरिक्त काम का इतना ज्यादा दबाव है कि वह तो कहानी ही अलग है।

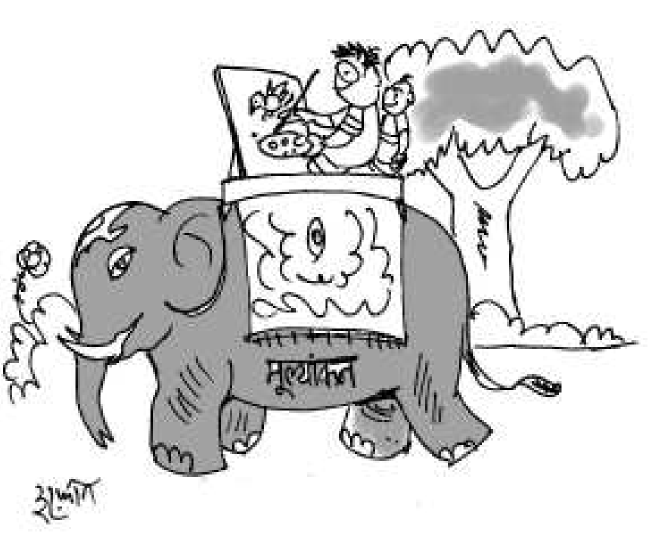

प्रश्नः एक बात यह भी कही जा रही है कि सतत और समग्र मूल्यांकन के लागू होने से शिक्षक पर काम का काफी दबाव बन रहा है?

उत्तरः देखिए, शिक्षक की हैसियत तोड़ी जा रही है, शिक्षक की परिस्थितियों को नहीं सुधारा जा रहा है। इससे यह दबाव तो बनेगा ही। अगर आप शिक्षक प्रशिक्षण पर ध्यान नहीं दे रहे हैं, उनकी तनख्वाह घटा रहे हैं तो यह होगा ही।

प्रश्नः अभी आकलन को लेकर जितनी बातचीत हो रही है इसमें दो शब्दों का लगातार प्रयोग होता है। एक है आकलन और दूसरा है मूल्यांकन। मुझे ऐसा लगता है इससे भ्रम की स्थिति बनती है। दोनों शब्दों को कैसे समझा जाए? क्या इनमें किसी तरह का फर्क है या दोनों एक ही अर्थ को संबोधित करते हैं?

उत्तरः जी हां, बड़ा बुनियादी फर्क है। देखिए, मूल्यांकन संप्रेषण का माध्यम है। यानी, आकलन का संप्रेषण कैसे किया जाए। उसकी कुछ पद्धतियां हैं जैसे नम्बर देना। मसलन, अगर मैं आपके इस साक्षात्कार की गुणवत्ता पर सात नम्बर दूंगा तो आप काफी खुश होकर जाएंगे। और मैं कहूं कि नहीं, आपने तो यह साक्षात्कार चार नम्बर के लायक ही लिया तो आप दुःखी होकर जाएंगे। इसका मतलब है कि मैंने आपकी साक्षात्कार की क्षमता का जो आकलन किया उसका संप्रेषण अंकों के माध्यम से किया। अंकों के माध्यम से अगर मुझे लगता है कि आप बुरा मान जाएंगे तो मैं ग्रेडिंग की दूसरी पद्धति से संप्रेषण कर सकता हूं। यानी, अक्षरों के माध्यम से और मैं मानूं कि साक्षात्कार के मामले में तीन स्तर हैं। आपने आज जो साक्षात्कार किया यह तो 'ग' वाले वर्ग में आता है। हो सकता है कि यह आपको उतना बुरा न लगे, जितना यह सुनकर लगे कि मेरे 10 नम्बर में से 2 या 4 ही नम्बर आए।

कई लोगों को लगता है कि अंकों वाली पद्धति ज्यादा विभाजन पैदा कर सकती है। आप सौ नम्बर तक जा सकते हैं। हालांकि इसमें भी श्रेणियां ही हैं लेकिन जो अक्षरों के जरिए बताने की पद्धति है उसमें ज्यादा मोटे समूह बनते हैं। अब अंग्रेजी में ए टू जेड कुल कितने अक्षर हैं जबकि संख्याएं सौ तक हैं। अक्षरों की एक सीमा है तो आप उसमें शुरू के चार अक्षर चुन लेते हैं ए, बी, सी, डी और बहुत से बहुत ई, तो पांच श्रेणियों में बांट देते हैं। ये सब संप्रेषण के तरीके हैं जबकि आकलन मुख्य है। आकलन का आशय है कि आप जायजा लेते हैं कि आपने सिखाने की जो कोशिश की है उससे कोई बच्चा कितना लाभान्वित हुआ है। हम बच्चे को, उसके माता-पिता को या स्कूल के रिकॉर्ड में किस तरह से संप्रेषित करें, यह दूसरा प्रश्न है। यह वह प्रश्न है कि हम उसके लिए मूल्य कितना रखें।

मूल्य शब्द से आकलन को एक निश्चित अभिव्यक्ति देते हैं और इसलिए मूल्यांकन को लेकर एक तरह की स्पष्टता की जरूरत रहती है कि उसका आधार क्या है। हमने उसे जो मूल्य दिया, 4 नम्बर के लायक या 6 नम्बर के लायक तो क्या यह स्पष्ट है कि 4 या 6 किन आधारों पर दिया गया। इन दोनों में मुख्य अन्तर यही है कि मसला मुख्यतः तय करने का है कि बच्चे ने किस हद तक लाभ उठाया या आप बच्चे में किसी एक विषय में या उसके किसी खास हिस्से में किस-किस तरह की समझ विकसित कर सके और उसको क्या मूल्य दिया जाए। इसमें फिर तुलना का प्रश्न आता है कि अन्य बच्चों की तुलना में यह बच्चा कहां है। वह भी मूल्यांकन का एक हिस्सा बन जाता है क्योंकि उससे भी एक संप्रेषण हो रहा है। यदि आपके पास 40 बच्चे हैं और आप इस तरह से संप्रेषित करते हैं कि हर बच्चे

को या बच्चों के अलग-अलग वर्ग को यह पता लग जाए कि हम कहां हैं। मूल्यांकन से एक तरह की सीढ़ियों का निर्माण होता है। पर अंततः है यह एक संप्रेषण का मसला जबकि आकलन आत्मा है इस पूरे विषय की, जो हमें शिक्षण में मदद देती है।

पुराना शिक्षक संप्रेषित करने के लिए विवश नहीं था। आज भी देखिए, आप नृत्य या संगीत की शिक्षा किसी पुराने किस्म के गुरु से लें। वह आपको लगातार संप्रेषित नहीं करेगा कि आप किस स्तर पर हैं, लेकिन आप एक तरीके से जान जाएंगे। मान लीजिए, संगीत का शिक्षक आपको स्वरों का ज्ञान दे रहा है और उसने एक जगह आकर आपको रोक दिया। उसने 'प' के बाद 'ध' पर जाने से पहले आपको कहा कि नहीं अभी तो आप 'प' का ही अभ्यास करो। इसका क्या मतलब है? वह आपको बता रहा है कि अभी आपका 'प' सधा नहीं है। 'स' से लेकर 'प' तक आप अभी ठीक नहीं हुए, आप 'ध' पर मत जाइए, कुछ दिन यहीं रुके रहिए। नई शब्दावली में आप कहें तो वह आपको कह रहा है कि आपका यह वाला स्वर अच्छे स्तर पर नहीं आया है या इसके नम्बर ठीक नहीं हैं या इसके लिए ग्रेड कम मिले। लेकिन जो पुराना शिक्षणशास्त्र है वह इस तरीके से बार-बार कोशिश करता था कि अभी तक जो हो चुका है उसे पक्का बनाएं और तब आगे जाएं। जब हम सामूहिक रूप से पढ़ाते हैं और सबको एक साथ ले जा रहे हैं तो कई बच्चे आगे नहीं चल पाते हैं या पिछड़ रहे हैं तो उन्हें संप्रेषण किया जा रहा है। यह और कुछ नहीं है सिर्फ संप्रेषण का मसला है।

प्रश्नः शिक्षा के अधिकार कानून के बाद सतत एवं समग्र मूल्यांकन पर काफी जोर दिया जा रहा है। बहुत से संगठन हैं जो आकलन को लेकर शिक्षा में हस्तक्षेप कर रहे हैं। आज के समय में सिर्फ आकलन को पकड़कर जो काम किया जा रहा है, आपको क्या लगता है कि क्या यह शिक्षा में किसी तरह का बदलाव की दिशा में ले जाएगा?

उत्तरः यह उस हद तक ले जाएगा जिस हद तक ये अपने काम को वृहत्तर शैक्षिक सुधार के परिप्रेक्ष्य में समझेंगे और उस तरह से व्यवहार करेंगे। अगर ये बाजार के तरीके से व्यवहार करेंगे कि हम तो मक्खन नहीं बनाते हम तो केवल उसका रैपर बनाते हैं और हमें कोई मतलब नहीं कि हमारे रैपर में किस तरह का मक्खन जा रहा है। वे अपने को जितना विशेषीकृत मानकर अपने सहयोग के क्षितिज बहुत ही सीमित करते जाएंगे, समूची व्यवस्था पर उसका प्रभाव नहीं पड़ेगा। लेकिन यही भागीदार संगठन, जिनकी ओर आप संकेत कर रहे हैं, अगर अपने काम को एक बड़े परिप्रेक्ष्य में समझेंगे तो फिर इनके काम में भी कुछ गहराई आएगी। वरना यह एक बहुत ही विशेषीकृत किस्म का काम हो जाएगा। जैसे, आपने किसी से आंखों का ऑपरेशन तो करवा लिया लेकिन इस बीच में आपको सांस की इतनी तकलीफ हो गई कि आप दमा से पीड़ित हो गए या उसी अस्पताल में आपको और तरह की बीमारियां हो गईं। इस तरह से शिक्षा में एक ज्यादा समग्र सुधार नहीं आएगा।

चूंकि अब यह बाजार का युग है तो हर आदमी अपना एक प्रोजेक्ट लेने की फिराक में रहता है कि सबकी अपनी-अपनी खास लड़ाई हैं। इस तरह से इस सुधार की प्रक्रिया का एक बहुत ही विखण्डित रूप हो जाता है। इसीलिए हम लोग व्यवस्था में समग्र सुधार नहीं देख पाते हैं। प्रोजेक्ट के तरीके में यह एक समस्या तो है कि लोग आपस में जुड़ नहीं पाते हैं और इसीलिए संस्थाओं के बीच एक संवाद भी नहीं बन पा रहा है।

यह भी बाजारवाद का ही एक हिस्सा है कि हमने अपना काम कर दिया, अब अगर आपके बाकी अंग गड़बड़ हैं तो हम क्या करें? कोई आदमी कम्प्यूटर ठीक करके चला जाए लेकिन कम्प्यूटर प्लग में लग ही नहीं रहा क्योंकि प्लग पॉइंट छोटा है। उसने ठीक तो कर दिया है लेकिन आप कम्प्यूटर का इस्तेमाल नहीं कर पा रहे हैं। उसने कहा कि यह मेरा काम नहीं है; यह तो बिजली वाले का काम है। हम तो इलैक्ट्रोनिक्स के हैं, इलेक्ट्रिसिटी का काम नहीं करते। यह पूरी विशेषीकृत किस्म की व्यवस्था है। क्योंकि मैंने आपसे कहा कि आकलन शिक्षण का अंग है उसे आप अलग से ठीक नहीं कर सकते। इसके लिए शिक्षकों के प्रशिक्षण, उनकी आत्म-छवि के सृजन, उनकी हैसियत की चिंता, उनकी आर्थिक सुरक्षा की चिंता; इन सबके भीतर ही यह चीज असर कर सकती है।

प्रश्नः एक और सवाल यह आता है कि स्कूल में शिक्षण की पूरी व्यवस्था परंपरागत तरीकों से चल रही है, यानी रटंत पर आधारित है और हम चाहते हैं कि सतत और समग्र आकलन करें। क्या ये दोनों चीजें एक साथ संभव हैं? यानी, सीखने के सिद्धांत और आकलन के बीच के रिश्ते को आप किस तरह देखते हैं?

उत्तरः नहीं, यह बिल्कुल हो ही नहीं सकता और मुझे आश्चर्य है कि आप कह रहे हैं कि शिक्षण रटंत पद्धति चल रहा है। जाहिर तौर पर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 के जरिए उसी को सबसे पहले चोट पहुंचाने की कोशिश की गई थी। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 के पांच सिद्धांतों में से एक यह है कि शिक्षक रटंत विद्या से मुक्त करे, अलग चले। पाठ्यपुस्तकों से भी यह अपेक्षा है कि पाठ्यपुस्तकें इस तरह से बनाई जाएं कि वे रटंत विद्या को निरुत्साहित करें। अगर वही सफल नहीं हुआ है, कम से कम आपको ऐसा लग रहा है, और बहुत-सी कक्षाओं में रटंत विद्या अभी भी हावी है तो जाहिर है कि सतत और समग्र मूल्यांकन के साथ उसकी पटरी नहीं बैठ सकती।

रटंत विद्या की पटरी तो पारंपरिक परीक्षा से ही बैठ सकती है। आपने खुद ही प्रश्न पूछते-पूछते इस पूरी समस्या की नब्ज पकड़ ली। इसीलिए हम वापस लौटना चाहते हैं कि हम रटंत विद्या से ही नहीं हटे तो फिर सतत और समग्र मूल्यांकन में क्यों फंसें। हम सोचते हैं कि हम वापस असफल करने का डर पैदा करने वाली पद्धति में चले जाएं। इसीलिए वह दबाव बन रहा है जिसका जिक्र आपने किया है।

प्रश्नः अगर हम सतत और समग्र आकलन करना चाहते हैं तो किस तरह के शिक्षणशास्त्र को अख्तियार करना होगा?

उत्तरः आपने खुद ही इसका उत्तर दिया है कि रटंत विद्या से हटना पड़ेगा। बच्चे के अपने अनुभवों पर आधारित, उसकी अपनी सीखने की इच्छा का सम्मान करने वाली सोच शिक्षकों में विकसित करनी होगी। बच्चों में अपने अनुभवों को ज्ञान में तब्दील करने की क्षमताएं विकसित करनी होंगी और सबसे पहले तो बच्चे के परिवेश को समझने, स्वीकारने और उससे जोड़कर शिक्षण करने की क्षमता शिक्षकों में पैदा करनी होगी। तब जाकर हम सफलता की विविधता के सिद्धांत को यथार्थ में कुछ अमलीजामा दे पाएंगे। क्योंकि मूल सिद्धांत यही है कि हर बच्चा अलग ढंग से सफल होता है। सफलता का कोई एक तराजू नहीं है। इस सोच को विकसित करने के लिए अलग-अलग विषयों में जिस तरह का बारीक प्रशिक्षण चाहिए, वह देना जरूरी होगा। तब जाकर हम सतत एवं समग्र मूल्यांकन की सोच को चरितार्थ करने की स्थिति में होंगे।

प्रश्नः हम आकलन पर सामान्य चर्चा कर सकते हैं और कह सकते हैं कि आकलन में बदलाव की जरूरत है। लेकिन हम देखते हैं कि विषय भी अलग-अलग तरह के हैं। गणित एक तरह का विषय है, विज्ञान दूसरी तरह का है और इसी तरह भाषा इनसे फर्क है। यदि कलाओं की बात करें तो वे एकदम ही अलग किस्म के विषय हैं। क्या हमें आकलन में भी विषयवार आकलन के तरीकों पर सोचने की जरूरत है? क्या विषयवार आकलन में किसी तरह का फर्क आप देखते हैं?

उत्तरः यह तो है ही। पाठ्यचर्या के जो चार बड़े-बड़े क्षेत्र हैं और अगर आप कला को भी गिन लें तो पांच क्षेत्र हो जाते हैं। इनके लिए अलग आकलन और मूल्यांकन की जरूरत होती है। एनसीईआरटी ने इन सभी पांचों क्षेत्रों पर स्रोत पुस्तिकाएं प्रकाशित की हैं। उनमें बहुत गहराई से और विस्तृत उदाहरणों की मदद से कक्षा 1 से 5 तक के लिए बहुत स्पष्ट निर्देश देने की कोशिश की गई कि इनमें फर्क क्या है। इन पुस्तिकाओं में यह समझाने की कोशिश की गई है कि गणित में आकलन करना और भाषा में आकलन करने या पर्यावरण शिक्षा में आकलन करने में क्या फर्क है। इन पुस्तिकाओं में कुछ तकनीकों, कौशलों और आकलन के तरीकों का अलग-अलग विषयों में विवेचन करने की कोशिश की गई है। मेरा आपसे आग्रह होगा कि एक तो आप इन पुस्तिकाओं पर गौर करें और अपने इस विशेषांक में उनके ऊपर एक समीक्षा दें।

यह विस्तार का विषय है लेकिन मोटे तौर पर छोटी-सी बात यह कही जा सकती है कि जैसे भाषा में उत्तरोत्तर मुखरता लाना। अलग-अलग विधाओं में अभिव्यक्ति के जो माध्यम हैं जैसे लेख, कहानी, कविता; इन सबकी

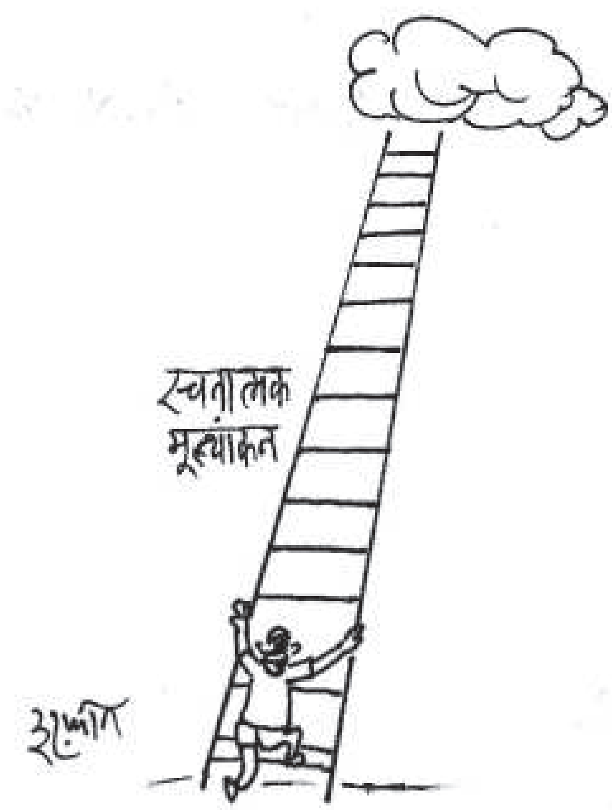

विकसित होती हुई रुचि में फैलाव लाना। ये एक तरह से भाषा में आकलन के आधार बनते हैं। ये आधार गणित के आधारों से भिन्न हैं। गणित में यह बहुत जरूरी होता है कि जो पिछली चीज पढ़ी उसे आधार बनाकर ही अगली चीज पढ़ाई जा सकती है। यह गणित विषय की विशेषता है कि अगर हमने जोड़ नहीं सीखा है तो गुणा नहीं सीख सकते। इसलिए गणित में ये उत्तरोत्तर चरण आते हैं और उसमें विषय सामग्री का बंटवारा जरूरी होता है।

विज्ञान में इन दोनों के बीच की कुछ-कुछ स्थिति है। बच्चे की रुचि का विकास और रुचि का फैलाव भी होता है लेकिन साथ में कुछ अवधारणाओं के पक्का होने की जरूरत भी बनती है। वे कौनसी बुनियादी अवधारणाएं हैं जिन्हें उसकी रुचि के फैलाव में मदद के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। यह विज्ञान की पाठ्यचर्या और विज्ञान में आकलन का एक बड़ा आधार है। तो एक सिरे पर है गणित और दूसरे सिरे पर आप भाषा को रख सकते हैं। कला भी भाषा से इस अर्थ में करीब है कि कलात्मक अभिव्यक्ति और कलात्मकता या कलात्मक संवेदना का विकास; ये बच्चों में जिन चरणों से गुजरता है उन चरणों में उनकी अभिव्यक्ति और दूसरों की अभिव्यक्ति संबंधी समझ बिल्कुल अलग-अलग हो जाती हैं। यानी, एक बच्चा पांच-छः साल की अवस्था में जिस तरह जानवर का चित्र बनाता है वह उसकी उस समय की दृष्टि का चित्र होता है न कि उस जानवर का। और जब वही बच्चा 8-9 साल की उम्र में उसी चित्र को बनाता है तो उसे वह जानवर कुछ-कुछ वैसा दिखने लगता है जैसा हमें वयस्क होने पर दिखता है। इस अवस्था में वह अपनी दृष्टि की जगह उस वस्तु पर ज्यादा केन्द्रित होता है। इस बात का इस्तेमाल शिक्षक को आकलन करने में करना चाहिए। वरना शिक्षक एक पांच वर्ष के बच्चे के चित्र को यह कहकर खारिज कर देगा कि यह तो जानवर जैसा दिखता ही नहीं। इससे पता लगेगा कि स्वयं शिक्षक को मालूम नहीं है कि कलात्मक अनुभव का विकास कैसे होता है। इन विषयों में हर चीज अलग है।

इसी तरह सामाजिक विज्ञान के विषय हैं जो सीधे-सीधे बच्चों के अनुभव से नहीं गुजरते हैं। इसलिए उनमें पाठ्यचर्या और आकलन दोनों का ही इन सभी बाकी विषयों से अलग ढंग से मूल्यांकन होना चाहिए या होता है। क्योंकि समाज एक छिपी हुई व्यवस्था होती है। आप फूल का खिलना या पत्ती का सूखना सहज देख सकते हैं लेकिन समाज किस तरह संचालित है, इसमें कौनसी संस्थाएं हैं, क्यों पुलिस की वर्दी पहन लेने से एक आदमी में इतनी ताकत आ जाती है कि वह गाड़ियों को रोक सकता है। ये हम देख नहीं सकते लेकिन समझ के जरिए इसका विकास होता है। इसका आकलन, जाहिर है, उस तरह से नहीं हो सकता जिस तरह से प्रकृति संबंधी ज्ञान का विज्ञान में आकलन हो सकता है। ये चीजें एनसीईआरटी की स्रोत पुस्तकमाला में समझाई गई हैं। उसमें हरेक क्षेत्र का आकलन किन आधारों पर हो और हरेक क्षेत्र की पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तकों में क्या अन्तर है, यहां से स्रोत पुस्तिकाएं शुरू होती हैं। और फिर वे पद्धति पर, प्रक्रियाओं पर, तकनीकों पर जाती हैं कि उनको कैसे पढ़ाने की पद्धतियों में शामिल किया जाए। मुझे लगता है कि वे स्रोत पुस्तिकाएं बनीं तो विश्व स्तर की हैं पर उनका इस्तेमाल प्रदेश स्तर पर भी नहीं हो पा रहा है। स्थानीय लोगों ने उन्हें एकदम भुला ही दिया है। वे आज भी उपलब्ध हैं। राज्यों ने न तो उन्हें अपने यहां पुनर्प्रकाशित किया, न शिक्षकों में बांटा और न ही उनका अनुवाद किया।

इन्हें बनाते हुए करीब 20-25 जिलों में प्रायोगिक तौर पर इस्तेमाल करके देखा गया था और इनका अंतिम रूप तैयार करने के काम से शिक्षकों को भी जोड़ा गया था। यह इतनी बढ़िया सामग्री है फिर भी इनकी चर्चा नहीं है। इन स्रोत पुस्तिकाओं को जिंदा करना इस अंक का काम होना चाहिए। इस अंक में उनका विज्ञापन जाए या एक पेज पर उनका परिचय जाए या उन पर समीक्षा जाए। यदि यह इतिहास का विषय बनता तो भी गनीमत थी लेकिन इसे तो पुरातत्व का विषय बना दिया गया है। आपको तीखे प्रश्न पूछने चाहिएं कि क्यों यह सामग्री विलुप्त प्रायः मान ली गई या भुला दी गई है? राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 (एनसीएफ) को तो लोग अभी तक भी उद्धृत कर रहे हैं और इन्हें क्यों नहीं कर रहे हैं जबकि ये एनसीएफ का ही अंग हैं?

प्रश्नः आजकल सतत के साथ समग्र आकलन की चर्चा है।...

उत्तरः समग्र से आशय है कि हमारी पारंपरिक पद्धति में मूल्यांकन सिर्फ विषयों में यानी, स्कूल की पाठ्यचर्या में जो विषय शामिल हैं उन्हीं का करती थी। इसके अलावा बच्चे की रुचियों या कला जैसे क्षेत्रों में या बच्चे के स्वास्थ्य को लेकर आकलन नहीं होता था। यानी, उसके व्यक्तित्व के जो अन्य आयाम हैं और जो उसके सीखने पर सीधे-सीधे प्रभाव डालते हैं उन्हें लेकर स्कूली व्यवस्था आंख मूंद लेती थी। एक बच्चा लगातार बीमार चल रहा है लेकिन आप उसकी प्रगति पुस्तिका देखकर नहीं पता लगा सकते, क्योंकि प्रगति पुस्तिका में बस नम्बर हैं और अगर नम्बर कम दिख रहे हैं तो आपको लगता था कि यह बच्चा तो कमजोर है। अब जब स्वास्थ्य ही उसका ठीक नहीं है और स्कूल में स्वास्थ्य संबंधी जो भी थोड़ी-बहुत गतिविधियां होती हैं उनमें वह भाग नहीं ले पा रहा है तो इसका कोई मतलब नहीं है। इसलिए शिक्षा के अधिकार कानून में समग्र मूल्यांकन वाली बात है, उसका आशय ही यही है कि बच्चों को हम सर्वांगीण दृष्टि से देखें। उसमें क्या-क्या शामिल करें यह एक विचार विमर्श का विषय है। लेकिन जाहिर है कि उसके स्वास्थ्य को, खेलकूद में उसकी रुचि, कलात्मक अनुभवों में उसकी रुचियों को, उसकी सामाजिकता के विकास को, मेलजोल का और उसकी स्वभाविक रुचियां या इस तरह के गुणों के विकास को जो कि उसकी पढ़ाई में मदद करते हैं, उन्हें भी आकलन की श्रेणी लाएं। जाहिर है अब इसमें बहुत संवेदनशील होने की जरूरत है कि हम आकलन का संप्रेषण इस तरह न करें कि जो विकास हो रहा है वह भी न हो। अगर उसमें सामाजिकता का अभाव है या लोगों से बहुत कम मिलता-जुलता है या गुमसुम रहता है तो हम सीधे उसे 'डी' ग्रेड न दे दें। संप्रेषण इस तरह से न कर दें कि उसे गणित में तो 'डी' मिल ही रहा है और इसमें भी मिल जाए। इससे उसमें जो रही-सही सामाजिकता है वह भी क्षीण पड़ जाएगी।

आकलन में समग्र वाला हिस्सा संप्रेषण के लिए और भी अधिक संवेदनशीलता की मांग करता है। क्योंकि इसके जरिए हम उन चीजों को छूते हैं जो पहले से बच्चे के व्यक्तित्व में एक तरह से छिपी हुई रहती हैं। अगर संप्रेषण माता-पिता को या अन्य शिक्षकों को किया जा रहा है तब तो और भी ज्यादा रचनात्मक शैली और भाषा में होना चाहिए। यह मांग करता है कि आप हर बच्चे को थोड़ा-बहुत समझें। यह समस्या लौटकर शिक्षक-बालक अनुपात पर आ जाती है कि वह कितना है। यानी, एक शिक्षक कितने बच्चों को एक साथ देख पा रहा है। क्योंकि शिक्षक-बालक अनुपात 30 की सीमा में तय किया गया है। यदि आकलन में वह 30 से ऊपर जा रहा है तो जाहिर है कि बहुत मुश्किल होगा और पूरे उद्देश्य को ही मटियामेट कर देगा। प्रशासकों के लिए यह समझना बहुत जरूरी है कि अगर किसी उद्देश्य को प्राप्त करना है तो उसके लिए जो आवश्यक परिस्थितियां हैं, उनका निर्माण प्रशासन करे, नहीं तो फिर उद्देश्य को छोड़ दे। यदि शिक्षक-बालक अनुपात सही नहीं हो रहा है तो फिर समग्र मूल्यांकन नहीं हो सकता।

यदि यह संभव नहीं है तो फिर आकलन को भी चरणों में ही लागू करें। पहले कम से कम पढ़ाई के विषयों में ही सीमित मूल्यांकन को सुधारें। फिर अगले चरण पर जाएं। हमारे यहां शैक्षिक नियोजन के इतने बड़े-बड़े संस्थान हैं, वे नियोजन में हमारी मदद करें और यह सोचें कि अगले पांच वर्षों में हम कितना कर पाएंगे। तब हम शायद यथार्थवादी ढंग से इस क्षेत्र में 15 वर्षों में थोड़ा-बहुत सुधार ला पाएंगे। ◆